बिशुनदेव नारायण और एक अन्य

बनाम

सियोगेनी राय और जगन्नाथ

[श्री हरिलाल कानिया मुख्य न्यायाधीश, पतंजलि शास्त्री,

मेहर चंद महाजन, एस. आर. दास और

विवियन बोस न्यायमूर्तिगण]

दीवानी प्रक्रिया संहिता (1908 का अधिनियम V), आदेश 32, नियम 7 — विभाजन का वाद जिसमें नाबालिग पक्षकार है—अभिभावक द्वारा समझौता—समझौते में प्रवेश करने से पूर्व न्यायालय की स्वीकृति प्राप्त नहीं की गई—डिक्री की वैधता—नाबालिग द्वारा डिक्री अपास्त करने हेतु वाद—केवल विभाजन की अनुचितता, का प्रभाव।

जहाँ किसी वाद में, जिसमें नाबालिग पक्षकार है, न्यायालय ने यह संतुष्ट होने के पश्चात कि समझौता या समझौता-पत्र नाबालिग के हित में है, उसे स्वीकृति प्रदान कर दी है, वहाँ उस अनुबंध या समझौते पर आधारित डिक्री को केवल इस आधार पर अवैध या नाबालिग पर बाध्यकारी नहीं माना जा सकता कि अगला मित्र या अभिभावक ने उस अनुबंध के लिए वार्ता प्रारम्भ करने से पूर्व न्यायालय की स्वीकृति प्राप्त नहीं की थी।

अवधेश प्रसाद मिसिर बनाम *त्रिबेनी प्रसाद मिसिर की विधवा* (आई.एल.आर. 19 पटना 343) अस्वीकृत।

यह नियम कि संयुक्त हिन्दू परिवार के सदस्यों के बीच विभाजन के मामले में, जिनमें से एक नाबालिग हो, यदि नाबालिग बालिग होने पर यह सिद्ध कर दे कि विभाजन अनुचित और अन्यायपूर्ण था, तो न्यायालय उसे अपास्त कर देगा, ऐसा नियम उन विभाजन वादों की डिक्री पर लागू नहीं होता जिनमें नाबालिग का न्यायालय के समक्ष विधिवत प्रतिनिधित्व किया गया था। ऐसी डिक्री उस पर उतनी ही बाध्यकारी होती है जितनी वयस्क

पक्षकारों पर, जब तक कि नाबालिग यह सिद्ध न कर दे कि उसके मित्र या *वाद*-अभिभावक की ओर से धोखाधड़ी या लापरवाही हुई थी।

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार। 1950 की दीवानी अपील संख्या 78

पटना उच्च न्यायालय (मनोहर लाल तथा शीयरर न्यायमूर्तिगण) द्वारा 1939 की प्रथम अपील संख्या 188 में दिनांक 1 दिसम्बर, 1942 को दिए गए निर्णय एवं डिक्री के विरुद्ध अपील, जो सारण, छपरा के अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा वाद संख्या 48 1936 में दिनांक 23 दिसम्बर, 1937 को पारित डिक्री से उत्पन्न हुई थी।

अपीलकर्ता के लिए *एच. जे. उमरीगर।*

उत्तरदाता संख्या 1 के लिए *एस. पी. सिन्हा* (उनके साथ *एस. एन. मुखर्जी*)।

1951, 4 मई — न्यायालय का निर्णय दिया गया

बोस, न्यायमूर्ति— यह वादियों की ओर से पटना उच्च न्यायालय के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध अपील है। प्रिवी काउंसिल के विद्वान सदस्यों ने विशेष अनुमति प्रदान की थी और यह मामला इस न्यायालय को स्थानांतरित कर दिया गया है।

जिस वाद से यह अपील उत्पन्न हुई है, वह इस घोषणा के लिए दायर किया गया था कि पूर्ववर्ती विभाजन वाद में पारित समझौता डिक्री वादियों पर बाध्यकारी नहीं है। वादियों-अपीलार्थियों के अधिवक्ता ने यह भी तर्क दिया कि वर्तमान वाद में विभाजन की भी प्रार्थना की गई थी, परंतु यह तथ्य संदेहास्पद है।

संक्षेप में तथ्य इस प्रकार हैं:

पक्षकार एक ऐसे परिवार के सदस्य हैं जिनके समान पूर्वज मोती राय नामक व्यक्ति थे। वादपत्र के साथ एक विस्तृत वंशावली संलग्न की गई थी, परंतु यहाँ निम्नलिखित से अधिक को प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है:

मोती राय

भंजन राय

हजारी राय
घुघुली राय

फिरंगी राय

चरिचन राय

बिक्रम राय

सेओगेनी राय
प्रतिवादी सं. 1

बेटे
प्रतिवादी सं. 3
4 और 5

बिसुनदेव राय
वादी सं. 1

गौरीशंकर रा
वादी सं. 2

बेटे
प्रतिवादी 11 और 12

मोती राय के दो पुत्र थे, भंजन राय और हजारी राय। प्रतिवादी पहले के वंशज हैं और वादी बाद वाले के। प्रतिद्वंद्वी प्रतिवादी फिरंगी राय का पुत्र सियोगेनी राय है। वादियों ने यह प्रकट नहीं किया था कि मोती राय के ये दोनों पुत्र अलग-अलग पत्नियों से थे, क्योंकि यह उनका मामला नहीं था; किंतु अब यह तथ्य सिद्ध हो चुका है और यहाँ इसका विवाद नहीं किया गया।

वादियों का कथन है कि सभी महत्वपूर्ण समयों पर परिवार संयुक्त था, जब तक कि उनके पिता घुघुली राय को 1924 में विभाजन करने के लिए बाध्य नहीं किया गया। वे कहते हैं कि यह विभाजन विभिन्न कारणों से उन पर बाध्यकारी नहीं है, जिनका, जहाँ तक वर्तमान अपील से संबंध है, विवरण आगे किया जाएगा।

वादियों के अनुसार उस विभाजन की परिस्थितियाँ इस प्रकार थीं। वादियों के पिता घुघुली राय और प्रथम वादी ने फिरंगी राय, उसके भाईयों तथा उनके वंशजों के विरुद्ध 1924 का विभाजन वाद संख्या 51 दायर किया था, अर्थात्, भंजन राय की शाखा के उस समय विद्यमान सभी सदस्यों के विरुद्ध। उस समय द्वितीय वादी का जन्म नहीं हुआ था और प्रथम वादी नाबालिग था। प्रतिवादियों में भी कुछ नाबालिग थे। फिरंगी राय, जो परिवार के *कर्ता थे,* ने अनुचित प्रभाव और दबाव का प्रयोग करके, वादियों के पिता को समझौता करने के

लिए बाध्य कर दिया। यह समझौता अत्यंत अनुचित और असमान था, फिर भी उसके आधार पर विभाजन की डिक्री पारित हो गई। यही वह डिक्री है जिसे वादी यहाँ चुनौती देना चाहते हैं।

दोनों पक्षों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि उस डिक्री के तहत कुछ संपत्तियाँ अविभाजित रह गई थीं। उन संपत्तियों की सीमा विवादित है, परंतु यह तथ्य स्वीकार है कि कुछ संपत्तियाँ विभाजित नहीं की गई थीं।

वर्ष 1936 में प्रथम प्रतिवादी ने 1936 का विभाजन वाद संख्या 29 दायर किया, जिसमें उन संपत्तियों के सीमा और सीमांकन विभाजन की मांग की गई, जो 1924 में विभाजित नहीं हुई थीं। वादियों का कहना है कि पूर्ववर्ती विभाजन उन पर बाध्यकारी नहीं है, अतः पूरे पारिवारिक संपत्ति को एक साथ में लाकर विभाजित किया जाना चाहिए, न कि केवल वे संपत्तियाँ जो 1924 में अविभाजित रह गई थीं; साथ ही, उनका यह भी कहना है कि इन संपत्तियों में उनका हिस्सा उस हिस्से से अधिक है जो उनके पिता को समझौता डिक्री के तहत मिला था। वादियों का कथन है कि जब तक 1924 के विभाजन वाद संख्या 51 की समझौता डिक्री प्रभावी है, तब तक वे 1936 के वाद संख्या 29 में ऐसा प्रतिरक्षण नहीं उठा सकते। तदनुसार, उन्होंने वर्तमान वाद दायर किया है।

केवल प्रथम प्रतिवादी ने ही इसका विरोध किया और चूँकि हमारा अन्य किसी से कोई संबंध नहीं है, सिवाय परोक्ष रूप से, इसलिए आगे उसे ही प्रतिवादी कहा जाएगा। वह समझौते पर कायम है और यह अस्वीकार करता है कि उसके द्वारा किया गया विभाजन असमान या अनुचित था। इसके विपरीत, वह यह दावा करता है कि वादियों को उनके अधिकार से अधिक मिला था। वह अनुचित प्रभाव और दबाव के आरोपों का भी खंडन करता है।

समझौते के संबंध में प्रतिवादी का कथन यह है। वह स्वीकार करता है कि परिवार कभी संयुक्त था, परंतु उसका कहना है कि मोती राय के जीवनकाल में ही बहुत पहले

विभाजन हो गया था। मोती राय की दो पत्नियाँ आपस में नहीं निभा सकीं, इसलिए प्रतिवादी के दादा भंजन राय ने अपने पिता मोती राय तथा अपने सौतेले भाई हजारी राय से अलगाव कर लिया। यह घटना वाद से लगभग बीस वर्ष पूर्व की है। तब से दोनों शाखाओं के बीच कोई संबंध नहीं रहा।

प्रतिवादी का कहना है कि प्रतिवादी शाखा में आगे भी विभाजन हुए थे और समय-समय पर प्रतिवादी शाखा के सदस्य तथा वादियों के शाखा के सदस्य भी अपनी-अपनी संपत्ति स्वयं अर्जित करते रहे, जिनसे अन्य का कोई संबंध नहीं था। इस प्रकार, वादियों के वाद (1924 की संख्या 51) की तिथि तक परिवार के विभिन्न सदस्यों के नाम पर अनेक संपत्तियाँ अलग-अलग दर्ज थीं और वे उनकी व्यक्तिगत संपत्तियाँ थीं। इसलिए वादियों को वाद दायर करने का कोई अधिकार नहीं था। किन्तु दीर्घकालीन मुकदमेबाजी से बचने और पारिवारिक विवाद को सौहार्दपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए, प्रतिवादी के पिता फिरंगी राय ने यह स्वीकार किया कि मोती राय के जीवनकाल में हुए प्रथम विभाजन के बाद प्रतिवादी की शाखा द्वारा अर्जित अनेक संपत्तियों में, जिन पर वादियों की शाखा का कोई दावा नहीं था, वादियों को चार आना हिस्सा दिया जाए। प्रतिवादी का दावा है कि यह एक पारिवारिक समझौता है, जो सभी पक्षों पर बाध्यकारी है।

प्रथम न्यायालय ने वादियों के पक्ष में निर्णय दिया और उनके दावे को न केवल घोषणा के लिए बल्कि विभाजन के लिए भी स्वीकार कर डिक्री पारित की। यह संदेह का विषय है कि वादियों ने वास्तव में विभाजन की मांग की थी या नहीं, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि जिन संपत्तियों के विभाजन का निर्देश विद्वान विचारण न्यायाधीश ने दिया, उन्हें प्रतिवादी ने विभाजन योग्य नहीं माना था, भले ही वादियों के अन्य सभी आरोप सही मान लिए जाएँ। अतः, प्रतिवादी का कहना था कि कुछ संपत्तियाँ अस्तित्व में ही नहीं थीं, कुछ स्व-अर्जित थीं, आदि। किन्तु विद्वान न्यायाधीश ने इन मुद्दों (यह विवाद मुद्दा संख्या 9 के

अंतर्गत आता है) का परीक्षण किए बिना और इस संबंध में कोई साक्ष्य प्रस्तुत हुए बिना ही उनके विभाजन का आदेश दे दिया। यह, निस्संदेह, किसी भी दृष्टिकोण से स्वीकार्य नहीं है।

प्रतिवादी ने उच्च न्यायालय में अपील की और सफल रहा। विद्वान उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने विचारण न्यायालय की डिक्री को उलट दिया और वादियों के दावे को खारिज कर दिया।

यहाँ की अपील अत्यंत सीमित दायरे में है और इसे सरलता से निपटाया जा सकता है। मूलतः हमारे समक्ष केवल पाँच बिंदु उठाए गए। पहला बिंदु दीवानी प्रक्रिया संहिता के आदेश 32, नियम 7 से संबंधित है। चूँकि पूर्ववर्ती वाद में दोनों पक्षों की ओर से नाबालिग पक्षकार थे, इसलिए समझौते के लिए न्यायालय की स्वीकृति आवश्यक थी। 17 नवम्बर, 1924 को विचारण न्यायालय ने अपने आदेश-पत्र में निम्नलिखित प्रविष्टि की:—

"*सेलेनामा* नाबालिग प्रतिवादी की ओर से समझौता करने की अनुमति हेतु प्रस्तुत प्रार्थनापत्रों के साथ दायर किया गया। आदेश हेतु नियत तिथि पर प्रस्तुत किया जाए।"

अगले दिन, *अर्थात्* 18 नवम्बर, 1924 को, यह प्रविष्टि है—

"समझौते का प्रार्थनापत्र प्रस्तुत किया गया। नाबालिग वादी तथा प्रतिवादियों के प्रस्तावित अभिभावकों ने समझौते की अनुमति हेतु प्रार्थनापत्र दाखिल किए हैं। अनुमति प्रदान की जाती है क्योंकि समझौता नाबालिग के हित में है।"

यह तर्क दिया गया कि इससे यह पर्याप्त रूप से सिद्ध नहीं होता कि विद्वान न्यायाधीश ने मामले पर विचार किया और स्वयं को इस बात से संतुष्ट किया कि समझौता नाबालिग के हित में था।

हमें नहीं लगता कि इलाहाबाद का निर्णय उस प्रमाणपत्र में सहायक है जिसे दर्ज करना न्यायालय के लिए आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि न्यायाधीश के ध्यान में आदेश 32,

नियम 7 के प्रावधान थे। उन्होंने 17 नवम्बर, 1924 को मामले को स्थगित किया। उन्होंने समझा कि उन्हें अनुमति देनी है और यह भी समझा कि समझौता नाबालिग के हित में होना चाहिए। उपर्युक्त उद्धृत आदेश का भाग दर्शाता है कि उन्होंने वास्तव में अनुमति दी और नाबालिग के हित के विषय में संतुष्ट थे। हमारे मत में, न केवल तकनीकी रूप से बल्कि स्पष्ट रूप से भी विधि का पालन किया गया था। अतः यह आपत्ति असफल होती है।

अगला बिंदु भी दीवानी प्रक्रिया संहिता के आदेश 32, नियम 7 से संबंधित है। यहाँ तर्क पटना उच्च न्यायालय के एक निर्णय तथा इलाहाबाद उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ के निर्णय पर आधारित है। इसका आशय यह है कि जब तक अगला मित्र या *वाद*-अभिभावक दूसरी पक्ष से वार्ता प्रारम्भ करने से पहले, और निश्चित रूप से किसी भी समझौते के लिए स्वयं को बाध्य करने से पूर्व, न्यायालय की स्वीकृति प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक बाद में प्राप्त की गई कोई भी स्वीकृति अमान्य होती है और ऐसा समझौता तथा उस पर आधारित डिक्री, यदि कोई हो, प्रभावहीन होती है।

हम नहीं मानते कि इलाहाबाद का निर्णय अपीलार्थियों के लिए सहायक है। यह निर्णय *हरियम बीबी* बनाम *आमना बीबी*[1] में सूचित है। वहाँ प्रश्न मध्यस्थता से संबंधित था। एक वाद दायर किया गया था जिसमें एक नाबालिग सम्मिलित था। नाबालिग के *वाद*-अभिभावक ने विवाद को मध्यस्थता में भेजने के लिए सहमति दे दी। उसने इस समझौते में प्रवेश करने के लिए न्यायालय की अनुमति नहीं ली, परंतु उसने मामले को अन्य प्रकार से न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया। उसने कहा कि पक्षकारों ने विवाद को मध्यस्थता में भेजने पर सहमति कर ली है और न्यायालय से उस संदर्भ को स्वीकृति देने का अनुरोध किया। न्यायालय ने वैसा ही किया, जिसके बाद एक पंचाट आया, और उस पंचाट की शर्तों के आधार पर एक डिक्री पारित की गई।

---

1 आई.एल.आर.1937 इलाहाबाद 317

अब यह स्पष्ट है कि जिस विद्वान न्यायाधीश ने मध्यस्थता के लिए संदर्भ को स्वीकृति दी, उन्होंने इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया कि उस मामले की परिस्थितियों में मध्यस्थता में जाना नाबालिग के हित में होगा या नहीं। उनका पूरा दृष्टिकोण यह था कि चूँकि पक्षकार सहमत हैं, वही पर्याप्त है। यह आदेश 32, नियम *7* के प्रावधानों का पालन नहीं था। विद्वान न्यायाधीश ने यह तक प्रमाणित नहीं किया कि समझौता नाबालिग के हित में है। पूर्ण पीठ ने यह माना कि आदेश 32, नियम *7* का पालन नहीं किया गया था और इस प्रकार के मामले में संदर्भ के लिए समझौते में प्रवेश करने से पूर्व न्यायालय की अनुमति आवश्यक है। परंतु उन्होंने यह भी कहा कि आवश्यक स्वीकृति प्राप्त न करने से संदर्भ, पंचाट और डिक्री शून्य नहीं हो जाते; वे केवल नाबालिग के विकल्प पर अपास्त करने योग्य होते हैं। हमारी राय में, हमारे समक्ष अपीलकर्ताओं की ओर से दी गई दलील के लिए वह कोई ठोस आधार (नज़ीर) नहीं है।

पटना का मामला, जो *अवधेश प्रसाद मिसिर* बनाम *त्रिबेनी प्रसाद मिसिर की विधवा*[(1)] में सूचित है, अधिक प्रासंगिक है। उसमें, पक्षकारों ने उच्च न्यायालय में बिना न्यायालय की स्वीकृति प्राप्त किए समझौता कर लिया। तत्पश्चात उन्होंने उस पूर्ण समझौते (पूर्ण, अर्थात् यानी जहाँ तक उनका संबंध था) को न्यायालय के समक्ष, स्पष्ट रूप से इसकी स्वीकृति के लिए, और न्यायालय ने निम्नलिखित आदेश दिया:—

"हम इस बात से संतुष्ट हैं कि पक्षकारों के बीच तय की गई शर्तें संबंधित नाबालिग प्रतिवादियों उत्तरदाता के हित में हैं।"

इसके पश्चात न्यायालय ने समझौते की शर्तों के अनुसार डिक्री पारित कर दी। जब नाबालिग बालिग हो गए, तो उन्होंने इस आधार पर घोषणा हेतु वाद दायर किया कि उक्त डिक्री उन पर बाध्यकारी नहीं है, क्योंकि आदेश 32, नियम *7* के प्रावधानों का समुचित

---

(1) आई.एल.आर.19 पटना 343 348 पर.

पालन नहीं किया गया था। पटना उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों ने इस तर्क को स्वीकार किया और निर्णय दिया कि जब तक *वाद*-अभिभावक दूसरी पक्ष से समझौते पर सहमति बनने से पहले ही समझौते में प्रवेश करने के लिए न्यायालय की अनुमति प्राप्त न कर ले, तब तक बाद में किसी पूर्ण (पूर्ण, अर्थात् पक्षकारों के बीच अंतिम रूप से तय) समझौते को न्यायालय द्वारा दी गई स्वीकृति नाबालिगों पर बाध्यकारी नहीं होगी, और ऐसी स्वीकृति के आधार पर आगे की कार्यवाही भी निष्प्रभावी होगी। अतः उन्होंने नाबालिगों को माँगी गई घोषणा प्रदान कर दी।

हमारे मत में, आदेश 32, नियम *7* को संपूर्ण रूप से पढ़ा जाना चाहिए। उप-नियम (2) उस स्थिति की परिकल्पना करता है जहाँ उप-नियम (1) के अनिवार्य प्रावधानों की अवहेलना की गई हो। ऐसी स्थिति में, परिणामी अनुबंध या समझौता शून्य नहीं माना जाएगा। यह केवल शून्यकरणीय है। अतः, वह तब तक वैध रहता है जब तक नाबालिग इससे बचने का विकल्प चुनता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि उस समझौते पर आधारित डिक्री या आदेश भी तब तक वैध रहता है जब तक नाबालिग उसे चुनौती न दे। यह स्थिति तब की है जब न्यायालय की स्वीकृति नहीं ली गई हो। दोनों उप-नियमों को साथ पढ़ने पर नियम का अभिप्राय मात्र इतना है कि कोई भी अगला मित्र या अभिभावक नाबालिग की ओर से ऐसा समझौता या अनुबंध नहीं कर सकता जो न्यायालय की स्वीकृति के बिना *नाबालिग पर बाध्यकारी हो*। यदि पटना का निर्णय यह कहता है कि अभिभावक को दूसरी पक्ष से समझौते के लिए वार्ता प्रारम्भ करने से पहले ही न्यायालय की स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिए, तो हम उस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं।

अगला बिंदु एक प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किया गया था। क्या नाबालिग केवल इस आधार पर कि समझौता उसके लिए अनुचित है, उस समझौते से हुए विभाजन को अपास्त करा सकता है? यह तर्क दिया गया कि वह ऐसा कर सकता है, और इसके समर्थन में

बालकिशन दास बनाम *राम नारायण साहू*[1] तथा मुल्ला की हिंदू लॉ (10वाँ संस्करण, पृष्ठ 394, धारा 308(2)) पर अवलंबन किया गया।

मुल्ला की पुस्तक में प्रतिपादित नियम स्पष्ट रूप से उन मामलों पर लागू बताया गया है जहाँ विभाजन किसी सक्षम न्यायालय की डिक्री द्वारा नहीं किया गया हो। हमारे मत में यह सही है। यह महत्वपूर्ण नहीं है कि डिक्री सहमति से पारित हुई हो या अन्यथा, क्योंकि कोई भी डिक्री, जब तक कि उसे विधि द्वारा निर्धारित किसी मान्य तरीके से अपास्त या रद्द न कर दिया जाए, अपना प्रभाव बनाए रखती है और संबंधित सभी व्यक्तियों पर बाध्यकारी होती है।

यह भली-भाँति स्थापित है कि नाबालिग विभाजन के लिए वाद दायर कर सकता है और डिक्री प्राप्त कर सकता है, यदि उसका अगला मित्र यह दिखा सके कि यह नाबालिग के हित में है। यह भी निर्विवाद है कि कोई वयस्क सहभाजक नाबालिगों के होते हुए भी वाद द्वारा विभाजन लागू करा सकता है। यहाँ तक कि वाद के बिना भी, संयुक्त परिवार के सदस्यों के बीच विभाजन हो सकता है, भले ही उनमें से एक नाबालिग हो। ऐसे अंतिम प्रकार के विभाजनों में, जहाँ नाबालिग विधि के अनुसार सहमति देने में असमर्थ होता है, यदि नाबालिग बालिग होने पर यह सिद्ध कर दे कि विभाजन अनुचित और अन्यायपूर्ण था, तो न्यायालय निश्चित रूप से उसे अपास्त कर देगा। परंतु, यह नियम, उन डिक्री पर लागू नहीं होता जहाँ नाबालिग का न्यायालय के समक्ष विधिवत प्रतिनिधित्व किया गया हो, और ऐसी डिक्री उस पर उतनी ही बाध्यकारी होती है जितनी वयस्क पक्षकारों पर, जब तक कि नाबालिग यह सिद्ध न कर दे कि उसके अगला मित्र या *वाद*-अभिभावक की ओर से धोखाधड़ी या लापरवाही हुई थी। अतः यह तर्क भी असफल होता है।

अब हम अनुचित प्रभाव और दबाव के प्रश्नों की ओर आते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि इन्हें पृथक रूप से अभिकथित नहीं किया गया है। यद्यपि कुछ मामलों में इनका आंशिक

(1) 30 आई.ए.139 150 पर

रूप से आपस में मेल हो सकता है, तथापि विधि में ये अलग और पृथक श्रेणियाँ हैं और इन्हें अलग-अलग रूप से अभिकथित किया जाना आवश्यक है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि इनके संबंध में कोई समुचित विवरण प्रस्तुत नहीं किया गया है। अब यदि कोई नियम सबसे अधिक स्थापित है, तो वह यह है कि धोखाधड़ी, अनुचित प्रभाव और दबाव के मामलों में, जो पक्ष इन्हें आरोपित करता है, उसे पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना चाहिए और मामला केवल उन्हीं विवरणों के आधार पर तय किया जा सकता है। साक्ष्य में उनसे कोई विचलन नहीं किया जा सकता। सामान्य आरोप पर्याप्त नहीं होते, चाहे कितनी भी कठोर भाषा का प्रयोग क्यों न किया गया हो, ये धोखाधड़ी के ऐसे अभिकथन के बराबर नहीं हो सकते जिसका किसी भी न्यायालय को संज्ञान लेना चाहिए; और यही बात अनुचित प्रभाव और दबाव पर भी लागू होती है। देखिए, आदेश 6, नियम 4, दीवानी प्रक्रिया संहिता।

वादपत्र में इस मामले के इस भाग के संबंध में आरोप इस प्रकार हैं। कंडिका 13 में वादी कहते हैं—

“कि उक्त फिरंगी राय, उक्त वाद दायर किए जाने से क्रोधित होकर, वादियों के पिता पर ऐसा दबाव डाला कि वादियों के पिता ने उसकी धमकी से मृत्यु के भय में आकर, फिरंगी राय तथा अन्य प्रतिवादियों द्वारा लिखित कथन दाखिल किए जाने से पूर्व ही उस वाद में समझौता प्रस्तुत कर दिया।”

कंडिका 15 में वे कहते हैं—

“कि उक्त समझौता वास्तव में और कुछ नहीं पर फिरंगी राय का निर्देश मात्र था, जिसे वादियों के पिता ने केवल फिरंगी राय के भयवश, अपनी स्वतंत्र इच्छा के विरुद्ध, दबाव, बलपूर्वक तथा अनुचित प्रभाव के अधीन होकर प्रस्तुत किया और हस्ताक्षर किए।”

तत्पश्चात, कंडिका 17 और 18 में वादी कहते हैं—

“17. कि वादियों के पिता कमजोर बुद्धि के व्यक्ति थे और अपने निवास-ग्राम या पड़ोस के लोगों से कोई सहायता या सहारा न मिलने के कारण, तथा परिवार की संपत्तियों के विवरण से भी अनभिज्ञ होने के कारण, वे विवश होकर और शांतिपूर्वक फिरंगी राय के निर्देशों के आगे झुक गए, जिसने अपने भयकारी प्रभुत्व का लाभ उठाते हुए सब कुछ अपनी इच्छा के अनुसार करना चाहा।

“18. कि समझौते के बाद भी वादियों के पिता को पारिवारिक संपत्तियों से कोई आय प्राप्त नहीं हुई और फिरंगी राय ही परिवार का एकमात्र स्वामी बना रहा तथा समस्त आय स्वयं ही लेता रहा।”

अब हम पहले दबाव के मामले पर विचार करेंगे। यह देखा जाएगा कि इस संबंध में वादियों का मामला केवल इस एक आरोप पर आधारित है कि उनके पिता को मृत्यु की धमकी दी गई थी। जब समस्त शब्दाडंबर हटा दिया जाता है, तो यही एकमात्र आधार रह जाता है। शेष बातें, विशेषकर कंडिका 8 से 12 में फिरंगी राय के उग्र व्यक्तित्व, उसके कथित मनमाने और आपराधिक आचरण तथा उसके चरित्र के बारे में जो तथ्य दिए गए हैं, वे केवल इस बात को विश्वसनीय बनाने के लिए हैं कि घुघुली राय के मन में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उसे दी गई मृत्यु की धमकी वास्तविक और आसन्न थी। किन्तु स्वयं उस धमकी के संबंध में, एक भी ठोस विवरण नहीं दिया गया है। हमें यह ज्ञात नहीं है कि धमकी का स्वरूप क्या था। यह भी ज्ञात नहीं है कि वह किस तिथि, समय और स्थान पर दी गई। हमें परिस्थितियों का भी ज्ञान नहीं है। यहाँ तक कि यह भी ज्ञात नहीं है कि धमकी किसने दी। अब, जब न्यायालय से यह निष्कर्ष निकालने को कहा जाता है कि किसी व्यक्ति को मृत्यु की धमकी दी गई थी, तो इन विवरणों का होना आवश्यक है; अन्यथा उचित निष्कर्ष पर पहुँचना असंभव है।

यह तर्क दिया गया कि वादी के लिए विवरण देना आवश्यक नहीं है और यदि दूसरा पक्ष संतुष्ट न हो, तो संहिता में ऐसे प्रावधान हैं जिनके अंतर्गत वह उन्हें माँग सकता है। यह एक गंभीर भ्रांति है।

परंतु इसे छोड़ भी दें, तो यहाँ साक्ष्य क्या है? केवल तीन गवाह ऐसे हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि अन्य को व्यक्तिगत ज्ञान नहीं था। ये हैं, संख्या 6 श्योकुमार दुबे, संख्या 9 बोधू राय और संख्या 10 श्योनंदन प्रसाद। इनमें से, केवल बोधू राय ही यह संकेत देते हैं कि फिरंगी ने कभी कोई धमकी दी थी। अन्य दो गवाह उनका समर्थन नहीं करते, और हम उनकी बात पर विश्वास नहीं कर सकते। अन्य गवाह केवल इतना कहते हैं कि घुघुली राय ने कहा था कि उनका जीवन संकट में पड़ सकता है, परंतु यह नहीं बताते कि कैसे या क्यों। यह अनुचित प्रभाव और दबाव के आरोपों को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है, विशेषकर जब निम्नलिखित तथ्य इन आरोपों का खंडन करते हैं: (1) घुघुली राय ने दो अधिवक्ता नियुक्त किए थे; (2) प्रथम मसौदा एक अधिवक्ताओं द्वारा इसलिए फाड़ दिया गया क्योंकि वह उसके मुवक्किल के प्रतिकूल था, और अंततः स्वीकृत समझौते वाला दूसरा मसौदा उसके स्थान पर प्रस्तुत किया गया; (3) घुघुली राय ने इस दूसरे मसौदे पर तब तक हस्ताक्षर करने से इनकार किया जब तक उसे पढ़कर सुनाया नहीं गया; (4) यह मसौदा उसी अधिवक्ताओं द्वारा पढ़कर सुनाया गया जिसने पहले मसौदे को अस्वीकार किया था, और घुघुली राय के हस्ताक्षर के बाद उसने भी उस पर हस्ताक्षर किए; (5) घुघुली राय ने कई अवसरों पर इस समझौते पर भरोसा किया और उसकी शर्तों को लागू कराने के लिए वाद दायर किए;(6) उन्होंने स्वयं फिरंगी राय के विरुद्ध दो बार वाद दायर किए;(7) यद्यपि वह समझौते के बाद ग्यारह वर्षों तक जीवित रहे और उसकी शर्तों के पालन के लिए कई वाद दायर किए, उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि यह दबाव या अनुचित प्रभाव से कराया गया था; (8) उन्होंने इसे अपास्त करने या प्रश्नगत करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया, यहाँ तक कि फिरंगी राय की मृत्यु के बाद भी, जो इस वाद से ढाई वर्ष पूर्व हुई थी; और (9) वे इस

वाद में वादी के रूप में शामिल नहीं हुए, जबकि वास्तविक तथ्य वही जानते थे। साक्ष्य में ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे यह संकेत मिले कि अनुचित प्रभाव कब समाप्त हुआ, और यह मानना असंभव है कि वह ग्यारह वर्षों तक, यहाँ तक कि फिरंगी राय की मृत्यु के ढाई वर्ष बाद तक भी बना रहा होगा।

एक और बिंदु भी है। दावे का आधार विभाजन की असमानता है। समझौते के अनुसार, प्रथम वादी और उसके पिता को वे संपत्तियाँ मिलीं जो उनके नाम पर थीं, तथा कुछ अन्य संपत्तियों में चार आना हिस्सा मिला। 1924 में इन विभिन्न संपत्तियों के मूल्य के संबंध में कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया है। यह संभव है कि इनका मूल्य तथा अन्य संपत्तियों में चार आना हिस्सा, समस्त संयुक्त संपत्ति के आठ आना के बराबर रहा हो। हम विद्वान उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों से सहमत हैं कि दबाव सिद्ध नहीं हुआ है।

अनुचित प्रभाव का मामला भी उसी परिणाम को प्राप्त होता है। इसे पृथक रूप से अभिकथित नहीं किया गया था और साक्ष्य भी वही है।

अंतिम तर्क यह है कि भले ही वादी अन्य सभी बिंदुओं पर असफल हों, उनका वाद पूर्णतः खारिज नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह स्वीकार है कि कुछ संपत्तियाँ अभी भी अविभाजित हैं और वादी उनके विभाजन तथा अपने हिस्से के पृथक कब्जे के अधिकारी हैं।

जैसा कि हमने प्रारंभ में कहा था, यह कुछ संदेह का विषय है कि क्या वादियों ने इस वाद में विभाजन की मांग की थी या वे केवल यह घोषणा चाहते थे कि 1924 के वाद की समझौता डिक्री उन पर बाध्यकारी नहीं है और इसलिए वे प्रथम प्रतिवादी के 1936 के वाद संख्या 29 में संपूर्ण संपत्ति के विभाजन की मांग करने से वंचित नहीं हैं।

हमें यह विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि वर्तमान वाद विभाजन और पृथक कब्जे के लिए है या नहीं, क्योंकि उसी पक्षकारों के बीच उसी राहत के लिए पूर्व में दायर एक वाद लंबित है। इन मामलों का निर्णय उसी वाद में करना अधिक सुविधाजनक और

उचित होगा। अतः हम वादियों के वाद को समस्त व्ययों सहित खारिज करते हैं, परंतु यह स्पष्ट कर देते हैं कि ऐसा करते समय हम उनके उस अधिकार का निर्णय नहीं कर रहे हैं जिसके तहत वे लंबित वाद में उन संपत्तियों के विभाजन की मांग कर सकते हैं, जिन्हें वे समझौता डिक्री के अंतर्गत विभाजन से छूटी हुई बताते हैं।

अपील खारिज।

अपीलार्थियों के अभिकर्ता: *आर. सी. प्रसाद।*

उत्तरदाता संख्या 1 के अभिकर्ता: *पी. के. चटर्जी।*

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।